३

चेतना का विराट् रूप

हमारे समग्र जीवन-चक्र का केन्द्र आत्मा है। यही सृष्टि का सम्राट् और शासक है। इसी सम्राट् की आज्ञा से शरीर और इन्द्रियाँ दास-दासियों की तरह काम करते हैं। मन भी, उसीकी आज्ञा एवं अनुशासन में रहता है। जो मन, शरीर और इन्द्रियों पर अधिकार चलाता है, वह भी अन्ततः आत्मा के शासन में ही चलता है। मन, आत्मा की आज्ञा के विपरीत कुछ भी नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है, कि आत्मा आज्ञा देते समय होश में रहता है, या नहीं। आत्मा के शासन करने का तरीका जब गलत होता है और अधिकार के साथ विवेक नहीं रहता है, तब मन गलत रास्ते पर चल पड़ता है। जब आत्मा स्वयं ठोकर खाते एवं भटकते हुए, मन को आज्ञा देता है, तो मन के विकल्पों एवं क्रियाओं के लिए वह स्वयं ही उत्तर-दायी होता है। शरीर और इन्द्रियाँ, तो मन के दास हैं, इसलिए वे भी स्वयं किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। यह सब उत्तरदायित्व का भार अन्ततः आत्मा पर आ जाता है। अतः मन, शरीर, इन्द्रियों के प्रत्येक कार्य का दायित्व उनका अपना नहीं, आत्मा का है। क्योंकि इन पर आत्मा के सिवा और किसी का भी नियन्त्रण नहीं है।

मैंने आपसे प्रारम्भ में बताया है—मन, इन्द्रिय, शरीर आदि के द्वारा सकषाय आत्मा कर्मों का कर्ता है, इसलिए वही भोक्ता भी है। जब कर्म करने के आन्तरिक कारण कषाय अर्थात् राग-द्वेष समाप्त हो जाएँगे, तब व्यक्ति कर्म करते हुए भी अकर्म-दशा को प्राप्त कर लेगा। उस अवस्था में जितना भी पुराना भोग है, वही शेष रह जाएगा। वह भोग समाप्त होते ही आत्मा परमात्म-स्वरूप मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाएगा।

जैन-दर्शन, भोग के एवं भोग्य पदार्थों के त्याग से भी अधिक भोगासक्ति के त्याग पर बल देता है। जब तक जीवन की धारा प्रवहमान है, तब तक बाह्य भोग के त्याग की एक सीमा होती है। शरीर है, तो समय पर भोजन-पानी भी चाहिए, वस्त्र-पात्र एवं निवास भी चाहिए। त्यागी-से-त्यागी भी जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से हमेशा के लिए बचकर नहीं चल सकता। सर्व-साधारण जनता को भ्रान्ति में रखने के लिए भोगोपभोग से अपने को सर्वथा मुक्त बताते रहना, अलग बात है, किन्तु जीवन की यथार्थ स्थिति कुछ और ही है। जैन-परिभाषा के अनुसार भोजन, पानी, वस्त्र-पात्र एवं निवास आदि सब भोगोपभोग की सीमा में आते हैं। अतः जैन-दर्शन ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय दिया है—जीवन में उसी भोगोपभोग का त्याग आवश्यक है, जो मर्यादाहीन, अनैतिक, दूषित एवं अनावश्यक हो। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं का विश्लेषण करना आवश्यक है और जो मर्यादा-प्रधान, नैतिक, निर्मल एवं आवश्यक भोगोपभोग हों, उनका भी अनासक्त भाव से उपयोग होना चाहिए। नीति-मूलक बाह्य भोग भी अन्तरंग में अनासक्त दृष्टि रहने से एक प्रकार का अभोग ही अर्थात् त्याग ही बन जाता है। यही भोग और त्याग का निष्कर्ष है। मूलतः राग-द्वेष की तीव्रता कम करने एवं क्षय करने का ही जैन-धर्म का उपदेश है। और, यही वह मार्ग है, जिस पर चल कर साधक भोग से अभोग की ओर, कर्म से अकर्म की ओर अग्रसर हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा मूलतः शुद्ध है :

भारतीय-दर्शन का एक शाश्वत विचार चला आ रहा है—"मूलतः आत्मा, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल और निर्विकार है। वही ईश्वर या परमात्मा है। उसे कहीं भी विकारी, पापी या दोषों से लिप्त नहीं कहा गया है।" प्रश्न होता है—"जब आत्मा एकदम निर्मल स्वरूप है, तो फिर काम, क्रोध, लोभ, मात्सर्य, अहंकार आदि दुर्गुणों के कीड़े कहाँ से आ गए?"

ये सब वैभाविक परिणतियाँ हैं। शुद्ध आत्म-स्वरूप की दृष्टि से आत्मा इनसे परे है। जैन-दर्शन के महान् आचार्य नेमिचन्द्र ने 'द्रव्य-संग्रह' में कहा है—

"मग्गण-गुणठाणेहिं, चउदसहिं तह हवन्ति असुद्धनया।
विन्नेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धनया॥"

जब-जब जीवों के भेदों की गिनती करता हूँ, एकेन्द्रिय-वेइन्द्रिय आदि तथा मन वाले और विना मन वाले—इन भेदों की ओर जब जाता हूँ, तो तीर्थंकर तक भी अशुद्ध ही प्रतीत होते हैं। जहाँ पर मोक्ष में केवल पल भर की ही देरी हो, वहाँ की स्थिति में भी अशुद्धि ही दृष्टि गोचर होती है। गुणठाणों की दृष्टि वहाँ भी चलती है और एक से चौदह गुणस्थान तक अर्थात् मोक्ष से पूर्व तक की स्थिति अशुद्ध ही प्रतीत होती है। वहाँ तक सभी संसारी जीव हैं। और, जो संसारी हैं, वे सब वद्ध हैं। और, बद्धता का अर्थ है—कर्म का आत्मा के साथ सम्पर्क। जब तक कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए हैं, तब तक आत्मा पूर्ण मुक्त नहीं, पूर्ण शुद्ध नहीं। और, इस दृष्टि से भी यह यथार्थ प्रतीत होता है कि यदि अशुद्धता नहीं, तो गुणस्थान कहाँ टिकेंगे। गुणस्थानों का श्रेणी-विभाजन आत्मा की क्रमिक विशुद्धि के आधार पर ही किया गया है। यदि चौदहवें गुणस्थान को छोड़ने से पहले पूर्ण शुद्धि हो गई, तो फिर गुणस्थान की कोई सीमा नहीं रही। अतः चौदहवें गुणस्थान वालों को भी मुक्त होना बाकी रहता है। इस प्रकार अशुद्धनय से, यानि संसार के प्रपंचों, भाव-विभावों, भाव-मन के उछल-कूद के आधार पर देखें, तो कहीं दर्शन मोह, कहीं चारित्र मोह, कहीं ज्ञानावरण, कहीं दर्शनावरण आदि का खेल देखने को मिलेगा और उससे भी परे वीतराग-सर्वज्ञ अवस्था में भी वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म का।

इसी उपर्युक्त स्थिति को यदि हम शुद्ध-नय की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें, तो सभी विकल्पों, विभावों और प्रपंचों से परे हमें शुद्ध-निर्मल आत्मा के दर्शन होंगे। एकेन्द्रिय निगोद से लेकर पञ्चेन्द्रिय आदि समस्त चेतना-जगत् में शुद्ध आत्म-तत्त्व की अमर ज्योति स्थित है, पापी, दुराचारी और परमाधार्मिक तथा नरक की अग्नि में जलने वाले नैरयिकों में भी आत्मा का शुद्ध रूप परिलक्षित होता है। भगवान् महावीर ने कहा है—"प्रत्येक प्राणी में आत्मा की अनन्त शक्ति एवं अमित उज्ज्वलता छिपी है।" इसलिए उन्होंने कहा—"इस मूलदृष्टि से सब आत्माएँ एक समान हैं, स्वरूप की दृष्टि से सब एक हैं—

"एगे आया" —स्थानांग सूत्र, प्रथम स्थान

—संग्रह-नय तथा मूल-स्वरूप की भाषा में 'आत्मा, एक है।'

इसी दृष्टि से मन्त्र-द्रष्टा वैदिक ऋषियों ने यह उद्घोष किया—

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"

—'सत्' आत्मा एक ही है। शुद्धि, शान्ति, सामर्थ्य आदि गुण की अपेक्षा से संसार की कोई आत्मा एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। यह आत्मा का शुद्ध रूप देखने का दृष्टिकोण है।

यही प्रश्न सन्त तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' की आदि में मंगलाचरण में ही उठाया है—"नमस्कार किसको करें? ब्रह्मा, विष्णु, महेश और विभिन्न सम्प्रदायों के अनेकानेक देवताओं में से किसको चुनें और किसको छोड़ें? और, जब बाहर से हटकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरात्मा की शुद्धता की ओर दृष्टि गई, तो प्रत्येक प्राणी में एक ही विराट् शुद्धता उन्हें तुरन्त दिखलाई पड़ी और तत्काल ही अपने प्रश्न का उत्तर उन्होंने स्वयं दे दिया—

" 'सिया-राममय' सब जग जानी।
करहुं प्रणाम जोरि जुग-पानी।।"

इस चौपाई में एक विराट् सत्य का उद्‌घाटन उन्होंने कर दिया है। उन्होंने सर्वत्र और सभी आत्माओं में सीता-राम का दर्शन किया। राम और सीता की पवित्र आत्मा से भिन्न उन्हें कोई भी दुष्ट आत्मा दिखलाई नहीं पड़ी, कहीं भी उन्होंने रावण या कुंभकरण का दर्शन नहीं किया। उन्हें हर आत्मा, राम और सीता के उज्ज्वल रूप में जगमगाती परिलक्षित हुई।

जैनों के द्वारा जब नमस्कार करने का प्रश्न उठा, तो विचार किया गया। किसी एक ही विशिष्ट तीर्थंकर, परमात्मा या भगवान् पर जा कर बुद्धि नहीं रुकी। उन्होंने कहा— **'णमो अरहंताणं'**—इसी एक पद में सभी भूत, भविष्य एवं वर्तमान अरहंतों को नमस्कार हो गया। नहीं तो, कितने अरहंतों के अलग-अलग नाम गिनाते या किसको नमस्कार करते, किसको छोड़ते? किसका नाम पहले लेते और किसका पीछे? इस प्रकार अनेक विवादास्पद प्रश्न उपस्थित हो जाते, जिनमें नमस्कार का भाव ही तिरोहित हो जाता। इसी प्रकार इसके आगे— **'णमो सिद्धाणं'** भूत, वर्तमान और भविष्यत् के सभी सिद्धों को, **'णमो आयरियाणं'** में सभी आचार्यों को, **'णमो उवज्झायाणं'** में सभी उपाध्यायों को और **'णमो लोए सव्व साहूणं'** में लोक में स्थित समस्त साधुओं को नमस्कार कर लिया गया। इसमें यह भेद नहीं किया गया, कि जैन-धर्म या किसी विशेष सम्प्रदायों के ही आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार हो, बल्कि इस नमस्कार में सभी सम्प्रदायों और पंथों के आत्म-निष्ठ, शुद्ध, सदाचारी आचार्य, उपाध्याय और साधु सम्मिलित हो गए। कुछ लोग, इसे जैन अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं तक ही सीमित कर लेते हैं, किन्तु यह तो विचारों को सही एवं सम्यक् रूप में नहीं समझने के कारण है। वास्तव में जैनत्व, तो अन्दर की ज्योति है, जो किसी बाड़े, वेष, पंथ, ग्रन्थ या सम्प्रदाय में बन्द नहीं है। जो धर्म किसी बाड़े, वेष, पंथ-मान्यता और क्रिया-काण्डों में बन्द हो जाता है, वह धर्म जड़ और निस्तेज हो जाता है। धर्म का प्रकाश आत्मा में होता है, वेष में नहीं। वेष की भूल-भुलैय्या में हम धर्म के शुद्ध स्वरूप को यदि नहीं पहचान पाते, तो यह ठीक नहीं है।

आत्मा : ज्ञान-स्वरूप है :

भारतीय-दर्शन में एक मात्र चार्वाक को छोड़ कर, शेष समस्त दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यद्यपि आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन की पद्धति सबकी भिन्न-भिन्न है, पर इसमें जरा भी शंका नहीं है, कि वे सब समवेत स्वर में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। भारतीय-दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन में सब से अधिक विवादास्पद प्रश्न यह है, कि ज्ञान आत्मा का निज गुण है या आगन्तुक गुण है। न्याय और वैशेषिक-दर्शन ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण तो स्वीकार करते हैं, पर उनके वहाँ वह आत्मा का स्वाभाविक गुण न हो कर, आगन्तुक गुण है। वैशेषिक-दर्शन के अनुसार तो, जब तक आत्मा की संसारी अवस्था है, तब तक ज्ञान आत्मा में रहता है, परन्तु मुक्त अवस्था में ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, कुछ दर्शनों की यह भी मान्यता है कि संसारी आत्मा का ज्ञान अनित्य है, पर ईश्वर का ज्ञान नित्य है। इसके विपरीत सांख्य और वेदान्त-दर्शन ज्ञान-चेतना को आत्मा का निज स्वरूप स्वीकार करते हैं। वेदान्त-दर्शन में इस दृष्टि से ज्ञान को ही आत्मा कहा गया है। एक शिष्य अपने गुरु से पूछता है—

"गुरुदेव! किमात्मिका भगवतो व्यक्ति : ?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके उत्तर में गुरु कहता है--"**यदात्मको भगवान् ।**"

शिष्य पुनः पूछता है--"**किमात्मको भगवान् ?**"

गुरु समाधान करता है--"**ज्ञानात्मको भगवान् ।**"

वेदान्त-दर्शन के इन प्रश्नों से स्पष्ट हो जाता है--वेदान्त आत्मा को ज्ञान-स्वरूप मानता है। वेदान्त के अनुसार, ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप ही है।

जैन-दर्शन में आत्मा के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म, गंभीर और व्यापक विचार किया गया है। आत्मा जैन-दर्शन का मूल केन्द्र-बिन्दु रहा है। जैन-दर्शन में अभिव्यक्त नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, षड् द्रव्य और पञ्च अस्तिकाय में चैतन्य आत्मा ही मुख्य है। आगम-युग से ले कर आज के तर्क-युग तक जैनाचार्यों ने आत्मा का विश्लेषण प्रधान रूप से किया है। आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म-ग्रन्थ तो प्रधानतया आत्म-स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं। तर्क-युग के जैनाचार्य भी, तर्कों के विकट वन में रहते हुए भी आत्मा को भूले नहीं हैं। यदि जैन-दर्शन में से आत्मा के वर्णन को निकाल दिया जाए, तो जैन-दर्शन में अन्य कुछ भी शेष नहीं बचेगा। इस प्रकार जैन-दर्शन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति आत्म-स्वरूप के प्रतिपादन में लगा दी है। अतः जैन-दर्शन और जैन-संस्कृति का प्रधान सिद्धान्त है--आत्म स्वरूप का प्रतिपादन और आत्म-स्वरूप का विवेचन।

आत्म-तत्त्व, ज्ञान-स्वरूप है। कुछ आचार्यों ने कहा है, कि आत्मा ज्ञानवान है। इसका अर्थ यह रहा कि, आत्मा अलग है और ज्ञान अलग है। अतः आत्मा ज्ञान-स्वरूप नहीं, ज्ञानवान है। इस कथन में द्वैतभाव की प्रतीति स्पष्ट है। जिस प्रकार आप कहते हैं कि यह व्यक्ति धनवान अर्थात् धनवाला है, तो इसका अर्थ यह हुआ--व्यक्ति अलग है और धन अलग है। वह व्यक्ति धन को पाने से धनवाला हो गया और जब उसके पास धन नहीं रहेगा, तो धनवाला भी नहीं रहेगा। इस कथन में द्वैत-दृष्टि स्पष्ट रूप से झलकती है। जैन-दर्शन की भाषा में इस द्वैत-दृष्टि को व्यवहार नय कहा जाता है। निश्चय नय की भाषा में आत्मा ज्ञानवान है, ऐसा नहीं कहा जाता है, वहाँ तो यह कहा जाता है कि आत्मा ज्ञायक-स्वभाव है, आत्मा ज्ञाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि--ज्ञान ही आत्मा है। जो कुछ ज्ञान है, वही आत्मा है और जो कुछ आत्मा है, वह ज्ञान ही है। यह शुद्ध निश्चय नय का कथन है। शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में आत्मा को ज्ञानवान नहीं कहा जाता, बल्कि ज्ञान-स्वरूप ही कहा जाता है। भगवान् महावीर ने 'आचारांग सूत्र' में स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है, कि "**जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।**" इसका अभिप्राय यह है, कि जो आत्मा है वही विज्ञान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान के बिना उसकी कोई स्थिति नहीं है। जैन-दर्शन के महान् दार्शनिक आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है-- '**आत्मा ज्ञानं, स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत् करोति किम् ?**" आत्मा साक्षात् ज्ञान है और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है। आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करती है। आत्मा और ज्ञान दो नहीं, एक ही है। जब आत्मा ज्ञान को ही करती है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करती, तब इसका अर्थ यह होता है कि एक ज्ञान-गुण में ही आत्मा के अन्य समस्त गुणों का समावेश कर लिया गया है।

जब आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, तब आत्मा को निर्मल करने का अर्थ है, ज्ञान को निर्मल करना और ज्ञान को निर्मल करने का अर्थ है, आत्मा को निर्मल करना। शास्त्रों में इसलिए कहा गया है कि मानव ! तू अपने ज्ञान को निर्मल बना, अपने ज्ञान को स्वच्छ बना और जब तेरा ज्ञान निर्मल और स्वच्छ हो जाता है, तब तेरे अन्य समस्त गुण स्वतः ही निर्मल और स्वच्छ हो जाते हैं। ज्ञान को निर्मल बनाने का अर्थ क्या है ? संसार में अनन्त पदार्थ हैं, संसार के उन पदार्थों में चेतन पदार्थ भी हैं और जड़ पदार्थ भी हैं। उन पदार्थों को जैसे तैसे जानना मात्र ही ज्ञान का काम नहीं है। किसी भी पदार्थ में, किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना भी ज्ञान का काम नहीं है। ज्ञान का काम तो केवल इतना ही है कि जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसे उसी रूप में जान ले। कल्पना कीजिए, किसी कमरे में दीपक जला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया गया है, तो दीपक का काम यह है, कि वह जलता रहे और अपना प्रकाश फैलाता रहे। रात भर भी यदि कोई व्यक्ति उस कमरे में न आए और काम न करे, तब भी दीपक जलता ही रहेगा। कमरे में कोई आए अथवा न आए, दीपक का काम है, कमरे को प्रकाशित करते जाना। कोई पूछे उससे कि क्यों व्यर्थ में अपना प्रकाश फेंक रहे हो? जब तुम्हारे प्रकाश का कोई उपयोग नहीं हो रहा है, तब क्यों अपना प्रकाश फैला रहे हो? यहाँ तो कोई भी नहीं है, जो तुम्हारे प्रकाश का उपयोग कर सके। दीपक के पास भाषा नहीं है। अगर उसके पास भाषा होती, तो वह कहता कि मुझे इससे क्या मतलब? कोई मेरा उपयोग कर रहा है, अथवा नहीं कर रहा है, इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरा अपना काम है, जलते जाना। प्रकाश फैलाते जाना ही मेरा स्वभाव है। किसी भी पदार्थ को अन्दर लाना या बाहर निकालना मेरा काम नहीं है, परन्तु जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसे उसी रूप में प्रकाशित कर देना ही मेरा अपना काम है। जो सिद्धान्त दीपक का है, वही सिद्धान्त ज्ञान का भी है। ज्ञान पदार्थ को प्रकाशित करता है, किन्तु पदार्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन करना ज्ञान का अपना कार्य नहीं है। ज्ञान एक गुण है और उसका अपना काम क्या है? अपने ज्ञेय को जानना। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब ज्ञान के ज्ञेय हैं और ज्ञान उनका ज्ञाता है। ज्ञान अनन्त है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त है, परन्तु ज्ञान जब तक आवृत है, तब तक वह अनन्त को नहीं जान सकता और जब उसका आवरण हट जाता है, तब वह असीम और अनन्त बन जाता है।

आचारांग सूत्र में एक उदात्त बोध-सूत्र है कि जो ज्ञाता है, वही आत्मा है और जो आत्मा है, वही ज्ञाता है।

'जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।'

आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। चेतना आत्मा का गुण है। जहाँ आत्मा का अस्तित्व नहीं, वहाँ ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं। जहाँ लक्ष्य है, वहीं लक्षण है। जहाँ लक्षण है, वहीं लक्ष्य है। आत्मभूत लक्ष्य और लक्षण कभी अलग-अलग नहीं रह सकते। जैसे सूर्य और प्रकाश कभी अलग-अलग नहीं किए जा सकते। जहाँ अग्नि है, वहीं उष्णता है, जहाँ मिश्री है, वहीं मिठास है। जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञान है।

संसार के पदार्थों का ठीक-ठीक विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि गुण और गुणी एक-दूसरे से कभी भी अलग-अलग नहीं हुए, और न कभी होंगे ही। दीपक की लौ और दीपक की लौ का प्रकाश, कभी एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकते, उसी प्रकार आत्मा और आत्मा का ज्ञान, कभी एक-दूसरे को छोड़ कर नहीं रह सकते। दोनों में उभयमुखी व्याप्ति है।

आत्मा और ज्ञान का सम्बन्ध एक-पक्षीय सम्बन्ध नहीं, उभय-पक्षीय है। जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान है, और जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा भी अवश्य है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह ज्ञान और आत्मा का उभय-पक्षीय सम्बन्ध है। ज्ञान कभी आत्मा से अलग नहीं हो सकता, चाहे संसारदशा हो या मुक्तदशा। चूंकि ज्ञान और आत्मा का वियोग होने का मतलब ही है--चेतन का जड़ हो जाना। और यह न कभी हुआ है, न कभी हो सकेगा। इसलिए यह सिद्ध है कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान आत्मा का आत्मभूत स्वरूप है।

चेतना का केन्द्र :

वेदान्त में कहा गया है--**'विज्ञानं ब्रह्म'** विज्ञान ही ब्रह्म है, परमात्मा है। और उसके आगे कहा है--**'तत्त्वमसि'**--तू वह है। अर्थात् तू ही ज्ञान स्वरूप परमात्मा है। भारतीय-दर्शन की यह विशेषता रही है कि वह शरीर, इन्द्रिय और मन तथा उसके विकल्पों के घने जंगल के बीच भी आत्मा के स्वरूप की पहचान कर लेता है। शरीर, इन्द्रिय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन के चक्रवात के बीच भी वह जड़ और चेतन का भेद स्पष्ट झाँक लेता है। यद्यपि प्रकट में जितनी भौतिक क्रियाएँ चलती हैं, सब इन्हीं शरीर आदि की चलती हैं। अतः साधारण दृष्टि से देखनेवाला इन्हें ही आत्मा का स्वरूप समझ लेता है। परन्तु, यह सत्य नहीं है। यह सब विकृतियाँ आत्मा के औपचारिक धर्म हैं, मूल धर्म नहीं हैं।

जब लोहा अग्नि में पहुँचकर लाल हो जाता है, तब यदि कोई उसका स्पर्श करता है, तो स्पर्श करनेवाले का हाथ जल जाता है। अब यदि कोई उससे पूछता है कि कैसे जल गया, तो यही उत्तर मिलता है कि लोहे के गोले को छूने से हाथ जल गया। किन्तु इस उक्ति में दार्शनिक दृष्टि से सत्य नहीं है। हाथ लोहे से नहीं, किन्तु उसके कण-कण में जो अग्नि-तत्त्व व्याप्त हो गया है, उस अग्नि-तत्त्व से जला है। जब लोहे के गोले से अग्नि-तत्त्व निकल जाता है, और वह बिल्कुल ठंडा हो जाता है, तब उसी लोहे के गोले को छूने से हाथ नहीं जलता। उक्त उदाहरण का स्पष्ट अर्थ है कि जलानेवाली अग्नि है, लोहे का गोला नहीं; अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने के कारण दाहक्रिया का लोहे के गोले में आरोप कर दिया है। यही बात दूध और घी के द्वारा जलने पर है। दूध और घी से कोई नहीं जलता। जलता है, उसके अन्दर की अग्नि से। इसी प्रकार राग-द्वेष आदि की विकृतियों का आत्मा में विचार किया जाता है। वस्तुतः ये आत्मा की औपाधिक-वैभाविक विकृतियाँ हैं, अपनी निजी विकृतियाँ नहीं हैं।

इन्द्रिय और मन आदि के माध्यम से जो ज्ञान होता है, उसके सम्बन्ध में स्थिति यह है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, इन्द्रिय आदि का नहीं। इन्द्रियज्ञान, मनोज्ञान आदि जो कहा जाता है, वह आत्मा के ज्ञान का इन्द्रिय आदि में उपचार है। शरीर, इन्द्रिय आदि में जब तक चैतन्य-तत्त्व व्याप्त रहता है, तब तक उसकी क्रियाएँ शरीर के अंग-प्रत्यंगों के माध्यम से परिलक्षित होती रहती हैं। लोहे के गोले के उदाहरण में यह स्पष्ट किया था कि वह लोहखण्ड अग्नि का आधार जरूर था, किन्तु जलाने की क्रिया और उसमें व्याप्त ताप उसके निजगुण नहीं, बल्कि तद्गत अग्नि-तत्त्व के गुण थे। अतः अग्नि और लोहे के परस्पर एक-दूसरे की संगति एवं सहावस्थान हो जाने के कारण व्यवहार भाषा में जलाने की क्रिया का आरोप लोहे पर किया गया, न कि उस अग्नि-तत्त्व पर, जो कि उसके मूल में स्थित था। वास्तव में लोह-तत्त्व एवं अग्नि-तत्त्व की संगति हो जाने पर भी, दोनों की सत्ता अलग-अलग है। यही बात शरीर, इन्द्रियाँ, मन और आत्मा के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन की, जो चैतन्य क्रियाएँ होती हैं, वे उनकी अपनी नहीं होकर, आत्मा की हैं। आत्मा ही उनकी संचालिका है; किन्तु आरोप से उन्हें आत्मा से सम्बन्धित न कर शरीर, इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित कर लिया जाता है। चिन्तन-मनन करने की क्रियाएँ आत्मा की हैं, परन्तु हम उनकी क्रियाओं का आरोप व्यवहार दृष्टि से मन पर करते हैं। दर्शन-शास्त्र का यह ध्रुव सिद्धान्त है कि जड़ की क्रियाएँ जड़ होती हैं और चेतन की क्रियाएँ चेतन होती हैं। चेतन की क्रिया जड़ नहीं कर सकता, और जड़ की क्रिया चेतन नहीं कर सकता। इसलिए यह स्पष्ट हुआ कि हम जिस चेतनाशक्ति का दर्शन कर रहे हैं, वह आत्मा की ही शक्ति है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञानमय है—इस बात को भारत का प्रत्येक अध्यात्मवादी-दर्शन स्वीकार करता है। भगवान् महावीर ने भी यही कहा था—"जो आत्मा है, वही विज्ञाता है। और जो विज्ञाता है, वही आत्मा है।" यही बात वेदान्त दर्शन कहता है—"विज्ञान ही ब्रह्म है।" मन, शरीर और इन्द्रियों से आत्मा को इस प्रकार अलग किया गया है, जैसे दूध से मक्खन को। आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध है अवश्य, किन्तु वह दूध और मक्खन का सम्बन्ध है, जो समय पर विच्छिन्न हो सकता है। आत्मा अनादिकाल से अपना स्वरूप भूल कर इनकी भूलभुलैयों में भटक रही है। वह जानती हुई भी अनजान बन रही है। विश्व-स्वरूप का, अनन्तानन्त पदार्थों का ज्ञाता—द्रष्टा होते हुए भी अज्ञान के अन्धेरे में पड़ी है, मिथ्यात्व के जंगल में भटक रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ :

हमारा पुरुषार्थ सबसे पहले अपने स्वरूप को जानने में लगना चाहिए। उपनिषद्-काल के एक आचार्य ने अपने शिष्य से पूछा था कि संसार का वह कौनसा तत्त्व है, जिस एक के जान लेने पर सब-कुछ जाना जा सकता है––**'एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'** शिष्य ने गुरु से ही पूछ लिया भगवन्––आप ही बतलाइए, वह कौनसा तत्त्व है, जिस एक के जान लेने पर सब-कुछ जान लिया जाता है? गुरु ने शिष्य में जिज्ञासा पैदा की और फिर उसका समाधान भी दिया। चूंकि जिज्ञासा का यदि समाधान न हो, तो वह फिर शंका का रूप धारण कर लेती है। गुरु ने शिष्य का समाधान किया––**'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'**––एक आत्मा को जान लेने पर सब-कुछ जान लिया जाता है। विश्व की अनन्त वस्तुओं का एक-एक करके यदि ज्ञान प्राप्त किया जाए, तो अनन्त-काल तक भटकते रहने पर भी सब ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा। किन्तु उस एक परम तत्त्व को जान लेने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

'आचारांग' सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में बहुत ही उदात्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है––

"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।" ––१-३-४

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिसने एक भी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान कर लिया, उसने समस्त विश्व को जान लिया। क्योंकि जो किसी भी एक द्रव्य की अनन्त पर्यायों को पूर्ण रूप में जान लेता है, वह अनन्त ज्ञानी होगा। अनंत ज्ञानी में सब-कुछ को जानने की शक्ति है। किसी भी एक पदार्थ के अनन्त धर्मों और उसकी अनन्त पर्यायों को जानने का अर्थ होता है––उसने सम्पूर्ण पदार्थ को पूर्ण रूप से जान लिया। किसी भी पदार्थ को पूर्ण रूप से जानने का सामर्थ्य, केवलज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान में नहीं है। केवलज्ञान, ज्ञान का पूर्ण विकास है। वह असीम है, अनन्त है। अतः उसमें अनन्त को जानने की शक्ति है।

जैन-दर्शन के अनुसार संख्या की दृष्टि से पुद्गल भी अनन्त हैं और जीव भी अनन्त है। किन्तु, एक द्रव्य को भी तद्गत अनन्त गुण-धर्मों की अपेक्षा से अनन्त माना गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने आप में अनन्त हैं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण-धर्म होते हैं। और एक-एक गुण-धर्म की अनन्त पर्याय होती हैं। प्रश्न यह है, एक साथ अनन्त पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है? अनन्त भूतकाल के, अनन्त भविष्य काल के और अनन्त वर्तमान काल के पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है? और क्या, एक-एक पदार्थ में अनन्त-अनन्त गुण विद्यमान हैं और एक-एक गुण की अनन्त-अनन्त पर्याय हैं? अनन्त पर्याय वर्तमान की, अनन्त पर्याय भूतकाल की और अनन्त पर्याय भविष्य की हैं? एक पदार्थ की अनन्त पर्याय कैसे होती हैं?

इसको समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए––आपके सामने एक वृक्ष है और उस वृक्ष में हजारों हजार पत्ते हैं। उनमें से एक पत्ता लीजिए। जिस पत्ते को आप इस वर्तमान क्षण में देख रहे है, क्या भूतकाल में वह वैसा ही था और क्या भविष्य में भी वह वैसा ही रहेगा? यदि आपको दर्शन-शास्त्र का थोड़ा-सा भी परिज्ञान है, तो आप यह कदापि नहीं कह सकते कि यह पत्ता जिसे आप वर्तमान क्षण में प्रत्यक्ष देख रहे हैं, भूतकाल में भी ऐसा ही था और भविष्यकाल में भी ऐसा ही रहेगा। एक पत्ता जब जन्म लेता है, तब उसका रूप और वर्ण कैसा होता है? उस समय उसके रूप और वर्ण को ताम्र कहा जाता है। फिर धीरे-धीरे वह हरा हो जाता है और फिर धीरे-धीरे वह एक दिन पीला पड़ जाता है। ताम्रवर्ण, हरितवर्ण और पीतवर्ण एक ही पत्ते की ये तीन अवस्थाएँ बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूल हैं। इनके बीच की सूक्ष्म अवस्थाओं का यदि विचार किया जाए, तो ताम्र से हरित तक हजारों-लाखों अवस्थाएँ हो सकती हैं और हरित से पीत तक करोड़ों अवस्थाएँ हो सकती हैं। वस्तुतः यह हमारी परिगणना भी बहुत ही स्थूल है। जैन-दर्शन के अनुसार तो उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन आ रहा है, जिसे हम अपनी चर्मचक्षुओं से देख नहीं सकते। कल्पना कीजिए, आपके समक्ष कोमल कमल के शतपत्र एक के ऊपर एक गड्डी बना कर रखे हुए हों, आपने एक सूई ली और एक झटके में उन्हें बींध दिया। नुकीली सूई एक साथ एक झटके में ही कमल के शतपत्रों को पार कर गई। पर, सूक्ष्मता से देखा जाए, तो सूई ने पत्तों को एक साथ नहीं, क्रमशः ही पार किया है। किन्तु यह काल-गणना सहसा ध्यान में नहीं आती। शत-पत्र कमल-भेदन में काल-क्रम की व्यवस्था है, किन्तु उसकी प्रतीति हमें नहीं होने पाती है। इसी प्रकार हर परिवर्तन के काल-क्षणों की धारा असंख्य है। जो अत्यधिक सूक्ष्म होने से हमारी दृष्टि की पकड़ में नहीं आ पाती है। और फिर पत्ते में केवल वर्ण ही नहीं होता, वर्ण के अतिरिक्त उसमें गन्ध, रस और स्पर्श आदि भी रहते हैं। किन्तु, जब हम नेत्र के द्वारा पत्ते को देखते हैं, तब उसके रूप का ही परिज्ञान होता है। जब हम उसे सूंघते हैं, तब हमें उसकी गंन्ध का ही परिज्ञान होता है, रूप का नहीं। जब हम उसको अपनी जिह्वा पर रखते हैं, तब हमको उसके रस का ही परिबोध होता है, वर्ण और गन्ध का नहीं। जब हम उसे हाथ से छूते हैं, तब हमें उसके स्पर्श का ही ज्ञान होता है, वर्ण, गन्ध और रस का नहीं। जब हम तज्जन्य शब्द को सुनते हैं, तब शब्द का ही हमें ज्ञान होता है, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का नहीं। फिर हम यह कैसे दावा कर सकते हैं कि हमने नेत्र से पत्ते को देखकर उसकी सम्पूर्णता का ज्ञान कर लिया। जब तक हमारा ज्ञान सावरण है, तब तक हम किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण रूप को नहीं जान सकते। सावरण ज्ञान खण्ड-खण्ड में ही वस्तु का परिज्ञान करता है। वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान तो एकमात्र निरावरण केवलज्ञान में ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसलिए आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने कहा है—

"तज्जयति परं ज्योतिः, समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थ-मालिका यत्र॥"

—जिस प्रकार दर्पण के सामने आया हुआ पदार्थ, उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है, उसी प्रकार जिस ज्ञान में अपने-अपने अनन्त गुणों—अनन्त पर्यायों के साथ अनन्त-अनन्त पदार्थ युगपद् झलकते हैं, वह ज्ञान-ज्योति केवलज्ञान है। केवलज्ञान आवरण रहित होता है। उसमें किसी प्रकार का आवरण नहीं रह पाता। अतः पदार्थ का सम्पूर्ण रूप ही उसमें प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण में जब किसी भी पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब इसका अर्थ यह नहीं होता कि पदार्थ दर्पण बन गया अथवा दर्पण पदार्थ बन गया। पदार्थ, पदार्थ के स्थान पर है और दर्पण, दर्पण के स्थान पर। दोनों की अपनी अलग-अलग सत्ता है। दर्पण में बिम्ब के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति है और बिम्ब में प्रतिबिम्बित होने की शक्ति है। अतः दर्पण में पदार्थ का प्रतिबिम्ब ही पड़ता है। केवल-ज्ञान में पदार्थ को जानने की शक्ति है, और पदार्थ में ज्ञान का ज्ञेय बनने का स्वभाव है। जब ज्ञान के द्वारा किसी पदार्थ को जाना जाता है, तब इसका अर्थ यह नहीं होता कि ज्ञान पदार्थ बन गया है, अथवा पदार्थ ज्ञान बन गया है। ज्ञान, ज्ञान की जगह है और पदार्थ, पदार्थ की जगह है। दोनों को एक समझना एक भयंकर मिथ्यात्व है। ज्ञान का स्वभाव है जानना और पदार्थ का स्वभाव है, ज्ञान के द्वारा ज्ञात होना। केवलज्ञान एक, पूर्ण और निरावरण ज्ञान है। इसीलिए उसमें संसार के अनन्त पदार्थ एक साथ झलक जाते हैं। और एक पदार्थ के अनन्त-अनन्त पर्याय भी एक साथ झलक जाते हैं। इसीलिए आचार्य ने यह कहा है कि विश्व की सम्पूर्ण पदार्थमालिका केवलज्ञानी के ज्ञान में प्रतिक्षण प्रति-बिम्बित होती रहती है। केवलज्ञान अनन्त होता है, इसीलिए उसमें विश्व के अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति है। अनन्त ही अनन्त को जान सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा में विकार विजातीय है :

राग और द्वेष आदि कषाय के कारण निर्मल आत्मा मलिन बन जाती है। आत्म में जो कुछ भी मलिनता है, वह अपनी नहीं है, बल्कि पर के संयोग से आई है। और जो वस्तु पर के संयोग से आती है, वह कभी स्थायी नहीं रहती। अमल-धवल वसन में जो मल आता है, वह शरीर संयोग से आता है। धवल वस्त्र में जो मलिनता है, वह उसकी अपनी नहीं है। वह पर की है, इसीलिए उसे दूर भी किया जा सकता है। यदि मलिनता वस्त्र की अपनी होती, तो हजार बार धोने से भी वह कभी दूर नहीं हो सकती थी। धवल वस्त्र को आप किसी भी रंग में रंग लें, क्या वह रंग उसका अपना है? वह रंग उसका अपना रंग कदापि नहीं है। जैसे संयोग मिलते रहे, वैसा ही उसका रंग बदलता रहा। अत: वस्त्र में जो मलिनता है अथवा रंग है, वह उसका अपना नहीं है, वह पर-संयोग जन्य है। विजातीय तत्त्व का संयोग होने पर, पदार्थ में जो परिवर्तन आता है, जैन-दर्शन की निश्चय-दृष्टि और वेदान्त की परमार्थ-दृष्टि उसे स्व में स्वीकार नहीं करती। जो भी कुछ पर है, यदि उसे अपना मान लिया जाए, तो फिर संसार में जीव और अजीव की व्यवस्था ही नहीं रहेगी। पर-संयोग-जन्य राग-द्वेष को यदि आत्मा का अपना स्वभाव मान लिया जाए, तो करोड़ों वर्षों की साधना से भी राग-द्वेष दूर नहीं किए जा सकते।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म से भिन्न है, शरीर आदि नोकर्म से भिन्न है और कर्म-संयोगजन्य रागादि अध्यवसाय से भी भिन्न है। कर्म में, मैं हूँ, और नोकर्म में, मैं हूँ, इस प्रकार की बुद्धि तथा यह कर्म और नोकर्म मेरे हैं, इस प्रकार की बुद्धि, मिथ्यादृष्टि है। यदि कर्म को आत्मा मान लिया जाए, तो फिर आत्मा को कर्म-स्वरूप मानना पड़ेगा। इस प्रकार जीव में अजीवत्व आ जाएगा और अजीव में जीवत्व चला जाएगा। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का यह कथन यथार्थ है कि यह राग, यह द्वेष, यह मोह और यह अज्ञान न कभी मेरा था और न कभी मेरा होगा। आत्मा के अतिरिक्त संसार में अन्य जो भी कुछ है, उसका परमाणु मात्र भी मेरा अपना नहीं है। अज्ञानी आत्मा यह समझती है कि मैं कर्म का कर्ता हूँ और मैं ही कर्म का भोक्ता हूँ। व्यवहार-नय से यह कथन हो सकता है, किन्तु निश्चय-नय से आत्मा पुद्‌गल रूप कर्म का न कर्ता है और न कर्म-फल का भोक्ता है। पर का कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा के धर्म नहीं हैं। क्योंकि परम शुद्ध नय से आत्मा निज स्वभाव का ही कर्ता और भोक्ता है। वह तो एकमात्र ज्ञायक स्वभाव है और ज्ञातामात्र है। ज्ञान आत्मा का अपना निज स्वभाव है। उस में जो कुछ मलिनता आती है, वह विजातीय तत्त्व के संयोग से ही आती है। विजातीय तत्त्व के संयोग के विलय हो जाने पर ज्ञान स्वच्छ, निर्मल और पवित्र हो जाता है। सावरण ज्ञान मलिन होता है और निरावरण ज्ञान निर्मल और स्वच्छ होता है। ज्ञान की निर्मलता और स्वच्छता तभी सम्भव है, जबकि राग और द्वेष के विकल्पों का आत्मा में से सर्वथा अभाव हो जाए। निर्विकल्प और निर्द्वन्द्व स्थिति ही आत्मा का अपना सहज स्वभाव है। रागी आत्मा प्रिय वस्तु पर राग करती है और अप्रिय वस्तु पर द्वेष करती है, पर यथार्थ दृष्टिकोण से देखा जाए, तो पदार्थ अपने आप में न प्रिय है, न अप्रिय है। हमारे मन की रागात्मक और द्वेषात्मक मनोवृत्ति ही किसी भी वस्तु को प्रिय और अप्रिय बनाती है। जब तक किसी भी प्रकार का विकल्प, जो कि पर-संयोग-जन्य है, आत्मा में विद्यमान है, तब तक स्वरूप की उपलब्धि हो नहीं सकती है। ज्ञानात्मक भगवान् आत्मा को समझने के लिए निर्मल और स्वच्छ ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान में यदि निर्मलता का अभाव है, तो उससे वस्तु का यथार्थ बोध भी नहीं हो सकता। जैन-दर्शन की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा भिन्न नहीं, अभिन्न ही हैं। ज्ञान से भिन्न आत्मा अन्य कुछ भी नहीं है, ज्ञान-गुण में अन्य सब गुणों का समावेश हो जाता है।

कहने का भाव यही है कि हमारे अशुभ विकल्प शुभ विकल्पों से लड़ें और इस प्रकार इन दोनों की लड़ाई में आत्मा तटस्थ बन कर देखती रहे। जब दोनों ही खत्म हो जाएँगे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो आत्मा अपने निरंजन, निर्विकार शुद्ध स्वरूप में आ जाएगी। मन, इन्द्रिय और शरीर के घेरे को तोड़कर, जो अपना शुद्ध लक्षण है—ज्ञानमय-स्वरूप है, उस में सदा-सर्वदा के लिए विराजमान हो जाएगी। तब वह इस संसार की दास नहीं, स्वामी होगी और होगी, चिन्मय प्रकाश-पुञ्ज !

—"अणंत नाणी य अणंत दंसी"

★

स्वपरविवेको हि दर्शनम्।

—स्व और पर का विवेक-बोध ही दर्शन है।

चिदचिद् भेदविज्ञानं ही दर्शनम्।

—जड़ और चेतन का भेद-विज्ञान ही दर्शन है।

—उपाध्याय अमरमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org